# क्या असंज्ञी जीवोंमें मनका सद्भाव है ?

श्री डॉ० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुरने अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलनके १६वें अधिवेशनके समय प्राकृत और जैनधर्म विभागमें जो निबन्ध पढ़ा था उसका हिन्दी अनुवाद 'असंज्ञी जीवोंकी परंपरा' शीर्षकसे अनेकान्तपत्रके वर्ष १३ की संयुक्त किरण ४-५ और ७ में प्रकाशित हुआ है।

डॉ० साहबके निबन्धका सारांश यह है कि असंज्ञी माने जाने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके जब मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंका सद्भाव जैन आगममें स्वीकार किया गया है तो निश्चित ही उन सभी जीवोंके मनका सद्भाव सिद्ध होता है कारण कि मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान मनकी सहायताके बिना किसी भी जीवके सम्भव नहीं है।

अभी तककी प्रचलित दि० आगमपरंपरा यह है कि जिन जीवोंके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी और जिन जीवोंके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहे जाते हैं। परन्तु डॉ० साहबने संज्ञी जीवोंके साथ असंज्ञी जीवोंका अन्तर दिखलानेके लिये अमनस्क शब्दका मनरहित अर्थ न करके 'ईषत् मन वाला' अर्थ किया है।

डॉ० साहबने अपने उक्त विचारोंकी पुष्टि आगमके कतिपय उद्धरणों और युक्तियों द्वारा की है।

इन्द्रियजन्य सभी प्रकारके मतिज्ञानमें मनकी सहायता अनिवार्य है—यह विचार न तो आज तक मेरे मनमें उठा और न अब भी मैं इस बातको माननेके लिये तैयार हूँ। परंतु समूचे जैन आगममें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेसे मेरे मनमें यह विचार सतत उत्पन्न होता रहा कि श्रुतज्ञान, जो कि मनके अवलम्बनसे ही उत्पन्न होता है, मन रहित असंज्ञी जीवोंके कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्रायः वर्तमान समयके सभी दि० विद्वान् असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव निश्चित मानते हैं; इसलिये उनके (असंज्ञी जीवोंके) आगममें स्वीकृत श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करके भी वे विरोधका परिहार इस तरह कर लेते हैं कि असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव होनेके कारण लब्धिरूप ही श्रुतज्ञान पाया जाता है क्योंकि उपयोगरूप श्रुतज्ञान मनके सद्भावके बिना उनके (असंज्ञी जीवोंके) संभव नहीं है।

दि० विद्वानोंका उक्त निष्कर्ष मुझे संतोषप्रद नहीं मालूम होता है। अतः मेरे सामने आज भी यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि मनके अभावमें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी संगति किस तरह बिठलाई जावे ?

श्वे० आगमग्रंथ विशेषआवश्यकभाष्यका वह प्रकरण, जिसका उद्धरण डॉ० साहबने अपने निबन्धमें दिया है और जिसमें एकेन्द्रिय आदि समस्त असंज्ञी जीवोंके भी तरतमभावसे मनकी सत्ताको स्वीकार किया गया है। करीब २० वर्ष पहले मेरे भी देखनेमें आया था। लेकिन उससे भी मेरे उक्त प्रश्नका उचित समाधान नहीं होता है, क्योंकि असंज्ञी जीवोंके मनके अभावमें लब्धिरूप श्रुतज्ञानकी सत्ताको स्वीकार करने और उनके ईषत्-मनका सद्भाव स्वीकार करके उपयोगरूप श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेमें असंतोषप्रद स्थितिका विशेष अन्तर नहीं है।

चूँकि डॉ० साहबने उक्त विषयमें अपने विचार लिपिबद्ध किये हैं, अतः इस विषयपर मेरे अब तकके चिंतनका जो निष्कर्ष है उसे मैं भी विद्वानोंके समक्ष उपस्थित कर देना उचित समझता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानकी उत्पत्ति दो प्रकारसे सम्भव है—स्वापेक्ष और परापेक्ष। अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनोंकी उत्पत्ति स्वापेक्ष मानी गई है तथा मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको उत्पत्ति परापेक्ष मानी गई है। यहाँ परशब्दसे मुख्यतया स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँच द्रव्य-इन्द्रियाँ और द्रव्यमन ग्रहीत होते हैं।

मतिज्ञानका प्रारम्भिक रूप अवग्रह ज्ञान है और अनुमान उस मतिज्ञानका अन्तिमरूप है। मतिज्ञानका अंतिम रूप यह अनुमानज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। आगमके 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इस वाक्यसे भी उक्त बातका समर्थन होता है।

किसी एक घटशब्दमें गुरु द्वारा घटरूप अर्थका संकेत ग्रहण करा देनेके अनन्तर शिष्यको सतत घट-शब्दश्रवणके अनन्तर जो घटरूप अर्थका बोध हो जाया करता है वह बोध उस शिष्यको अनुमान द्वारा उस घट शब्दमें घटरूप अर्थका संकेत ग्रहण करनेपर ही होता है। अतः अनुमानकी श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणता स्पष्ट है और चूँकि अनुमान मतिज्ञानका ही अंतिमरूप है, अतः 'मतिपूर्वं श्रुतम्' ऐसा निर्देश आगममें किया गया है।

कई लोगोंका ख्याल है कि 'जब अर्थसे अर्थान्तरके बोधको श्रुतज्ञान कहतेहैं तो श्रुतज्ञानको अनुमान ज्ञानसे पृथक् नहीं मानना चाहिये', परन्तु उन लोगोंका उक्त ख्याल ग़लत है, क्योंकि मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि श्रुतज्ञानमें अनुमान कारण है, अतः अनुमानज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

जिस प्रकार श्रुतज्ञानमें कारण अनुमानज्ञान है और अनुमानज्ञानके अनन्तर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनुमानज्ञानमें कारण तर्कज्ञान होता है और तर्कज्ञानके अनन्तर ही अनुमानज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है, इसी तरह तर्कज्ञानमें कारण प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानमें कारण स्मृतिज्ञान और स्मृतिज्ञानमें कारण धारणा ज्ञान हुआ करता है तथा तर्कज्ञानके अनन्तर ज्ञानकी उत्पत्तिके समान ही प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर ही तर्कज्ञानकी, स्मृतिज्ञानके अनन्तर ही प्रत्यभिज्ञानकी और धारणाज्ञानके अनन्तर ही स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञानकी तरह उक्त प्रकारके मतिज्ञानोंमें भी मतिज्ञानकी कारणता स्पष्ट हो जाती है क्योंकि अनुमान, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और धारणा ये सभी ज्ञान मतिज्ञानके ही प्रकार मान लिये गये हैं— 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तिरम्' इस अगमवाक्यमें मतिके अर्थमें 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस सूत्रवाक्यनुसार धारणाका अन्तर्भाव हो जाता है तथा प्रत्यभिज्ञानका ही अपर नाम संज्ञाको, तर्कका ही अपर नाम चिन्ताको और अनुमानका ही अपर नाम अभिनिबोधको माना गया है।

यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिये कि जब स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सब प्रकारके मतिज्ञानोंमें तथा श्रुतज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर यथायोग्य ऊपर बतलाये गये प्रकारानुसार पदार्थज्ञान अथवा यों कहिये कि पदार्थज्ञानका दर्शन ही कारण हुआ करता है। अतः ये सब ज्ञान परोक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं क्योंकि पदार्थदर्शनके अभावमें उत्पन्न होनेके कारण इन सब ज्ञानोंमें विशदताका अभाव पाया जाता है जबकि 'विशदं प्रत्यक्षम्' आदि वाक्यों द्वारा आगममें विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षज्ञान बतलाया गया है। यहाँ पर ज्ञानको विशदताका तात्पर्य उसकी स्पष्टतासे है और ज्ञानमें स्पष्टता तभी आ सकती है जबकि वह ज्ञान पदार्थदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक ज्ञानमें दर्शन कारण होता है। परन्तु इतना विशेष है कि किसी-किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानमें तो पदार्थका दर्शन कारण होता है और किसी-किसी ज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर पदार्थ-ज्ञानका दर्शन कारण होता है, जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण होता है उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ झलकता है। अतः वे ज्ञान विशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी विशदताके कारण ही वे ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान-की कोटिमें पहुँच जाते हैं। जैसे—अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों स्वापेक्षज्ञान तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंसे होने वाला पदार्थज्ञान तथा मानस प्रत्यक्ष ज्ञान। एवं जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञान पदार्थदर्शनके अभावमें ही पदार्थज्ञानपूर्वक या यों कहिये कि पदार्थज्ञानदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ करते हैं उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ नहीं झलक पाता है अतः वे ज्ञान अविशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी अविशदताके कारण ही वे ज्ञान परोक्ष-ज्ञानकी कोटिमें चले जाते हैं जैसे—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दर्शन और ज्ञानमें जो कार्य-कारण भाव पाया जाता है, वह सहभावी है। इसलिए जब तक जिस प्रकारका दर्शनोपयोग विद्यमान रहता है तब तक उसी प्रकारका ज्ञानोपयोग होता रहता है और जिस क्षणमें दर्शनोपयोग परिवर्तित हो जाता है उसी क्षणमें ज्ञानोपयोग भी बदल जाता है—'दंसणपुव्वं णाणं' इस आगमवाक्यका यह अर्थ नहीं है कि दर्शनोपयोगके अनन्तरकालमें ज्ञानोपयोग होता है क्योंकि यहाँ पर पूर्वशब्द ज्ञानमें दर्शनकी सिर्फ कारणताका बोध करानेके लिये ही प्रयुक्त किया गया है जिसका भाव यह है कि दर्शनके बिना किसी ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इस कथनसे छद्मस्थजीवोंमें दर्शयोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमवर्त्तीपनेकी मान्यताका खण्डन तथा केवलीके समान ही उनके (छद्मस्थोंके) उक्त दोनों उपयोगोंके यौगपद्यका समर्थन होता है।

इस विषयके मेरे विस्तृत विचार पाठकोंको भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होने वाले 'ज्ञानोदय' पत्रके अप्रैल सन् १९५१ के अंकमें प्रकाशित 'जैन दर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान' शीर्षक लेखमें तथा जून ५१ के अंकमें प्रकाशित 'ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार' शीर्षक लेखमें देखनेको मिल सकते हैं। ये दोनों लेख इसी ग्रन्थमें यथास्थान प्रकाशित हैं।

अस्तु! ऊपर जो स्मृतिमें कारणभूत धारणाज्ञानका संकेत किया गया है वह धारणाज्ञान चूँकि पदार्थ दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाता है। तथा इस धारणा-ज्ञानके अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती अवाय, ईहा और अवग्रहज्ञान भी चूँकि पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न हुआ करते हैं अतः ये तीनों ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं।

यहाँपर इतना विशेष समझना चाहिए कि अवाय, ईहा और अवग्रह ये तीनों ज्ञान यद्यपि धारणाज्ञानके पूर्ववर्ती होते हैं परन्तु इनका धारणाज्ञानके साथ कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे धारणा आदि ज्ञान स्मृति आदि ज्ञानोंमें कारण होते हैं उस प्रकार धारणाज्ञानमें अवाय आदि ज्ञानोंको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि धारणाज्ञानके पहले अवाय आदि ज्ञान होना ही चाहिये।

तात्पर्य यह है कि कभी कभी हमारा ऐन्द्रियिकज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें ही धारणारूप हो जाया करता है, अतः वहाँपर यह भेद करना असम्भव होता है कि ज्ञानकी यह हालत तो अवग्रहज्ञानरूप है और उसकी यह हालत धारणारूप है। कभी-कभी हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें धारणा-रूप नहीं हो पाता, धीरे-धीरे कालान्तरमें ही वह धारणाका रूप ग्रहण करता है। इसलिए जब तक हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान धारणारूप नहीं होता, तब तक वह ज्ञान अवग्रहज्ञानकी कोटिमें बना रहता है। यदि कदाचित्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान किन्हीं कारणोंकी वजहसे संशयात्मक हो जाता है तो निराकरणके साधन उपलब्ध हो जानेपर संशयके निराकरणकालमें ही वह ज्ञान धारणारूप नहीं हो जाया करता है। कदाचित् संशयके निराकरणकालमें वह ज्ञान धारणा रूप नहीं हो सका तो जब तक वह ज्ञान धारणारूप नहीं होता तब तक उसकी अवायरूप स्थिति रहा करती है। कभी कभी संशयनिराकरणके साधन उपलब्ध होनेपर भी यदि संशयका पूर्णतः निराकरण नहीं हो सका तो उस हालतमें हमारा वह ज्ञान ईहात्मक रूप धारण कर लेता है और कालान्तरमें वह ज्ञान या तो सीधा धारणारूप हो जाया करता हैं अथवा पहले अवायात्मक होकर कालान्तरमें धारणारूप होता है। इस तरह ज्ञानके धारणारूप होनेमें निम्न प्रकार विकल्प खड़े किए जा सकते हैं–

१. पदार्थदर्शनकी मौजूदगीमें ही उस पदार्थका प्रत्यक्ष होता है।

२. इन्द्रियों अथवा मन द्वारा होनेवाला पदार्थ प्रत्यक्ष या तो सीधा धारणारूप होता है। अथवा

३. अवग्रहपूर्वक धारणारूप होता है। अथवा

४. संशयात्मक अवग्रहण होनेके अनन्तर यथायोग्य साधन मिलनेपर धारणारूप होता है। अथवा

५. संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलनेपर उसकी अवायात्मक स्थिति होती है और तदनन्तर वह धारणारूप होता है अथवा

६. संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलनेपर उसकी ईहात्मक स्थिति होती है और तब वह धारणारूप होता है। अथवा

७. ईहाके बाद आवायात्मक स्थिति होकर वह धारणारूप होता है। इस प्रकार ऐन्द्रियिक पदार्थ प्रत्यक्षके धारणारूप होनेमें ऊपर लिखे विकल्प बन जाते हैं और इन सब विकल्पोंके साथ पदार्थदर्शनका संबंध जैसाका तैसा बना रहता है। लेकिन जिस समय और जिस हालतमें पदार्थका दर्शन होना बन्द हो जाता है उसी समय और उसी हालतमें पदार्थप्रत्यक्षकी धारा भी बन्द हो जाती है। इस तरह कभी तो ऐन्द्रियिक पदार्थ-प्रत्यक्ष धारणारूप होकर ही समाप्त होता है और कभी-कभी यथायोग्य अवग्रह, संशय, ईहा या अवायकी दशामें ही वह समाप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार धारणाप्रत्यक्षसे लेकर परोक्ष कहे जाने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतरूप ज्ञानोंमें नियत, आनन्तर्य पाया जाता है उस प्रकार प्रत्यक्ष कहे जानेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञानोंमें आनन्तर्य नियत नहीं है तथा यह बात तो हम पहले ही कह आये हैं कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानोंमें उत्तरोत्तर कार्यकारणभावका सर्वथा अभाव ही रहता है।

इन पूर्वोक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ऐन्द्रियिक ज्ञानोंमेंसे एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके समस्त असंज्ञी जीवोंके पदार्थका केवल अवग्रहरूप प्रत्यक्षज्ञान स्वीकार किया जावे और शेष प्रत्यक्ष कहे जानेवाले ईहा, अवाय और धारणाज्ञान तथा परोक्ष कहे जानेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान उन असंज्ञी जीवोंके न स्वीकार किये जायें, जैसा कि बुद्धिगम्य प्रतीत होता है, तो इनके (असंज्ञी जीवोंके) ईषत् मनकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है और तब संज्ञी तथा असंज्ञी जीवोंकी 'जिनके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी, तथा जिनके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहलाते हैं' ये परिभाषाएँ भी सुसंगत हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना स्वीकार कर लेनेपर अब हमारे सामने यह मुख्य प्रश्न विचारके लिए रह जाता है कि जब असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव नहीं है तो केवलियोंके अतिरिक्त पंचेन्द्रियसे लेकर एकेन्द्रिय तकके समस्त संसारी जीवोंके मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंकी सत्ता बतलानेका कारण क्या है ?

इसका उत्तर यह है कि जैन संस्कृतिमें वस्तुविवेचनके विषयमें दो प्रकारकी पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं—एक तो करणानुयोगकी आगमिक पद्धति और दूसरी द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धति। इनमेंसे जो द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिका श्रुतज्ञान है, जिसका अपर नाम आगमज्ञान है और जिसका कथन द्रव्यश्रुतके रूपमें 'द्व्यनेकद्वादशभेदम्' इस सूत्रवाक्य द्वारा किया गया है अथवा जो वचनादिनिबन्धन अर्थज्ञानके रूपमें प्रत्येक संज्ञी जीवके हुआ करता है—वह श्रुतज्ञान असंज्ञी जीवोंके नहीं होता, यह बात तो निर्विवाद है तब फिर इसके अतिरिक्त कौन-सा ऐसा श्रुतज्ञान शेष रह जाता है जिसकी सत्ता असंज्ञी जीवोंके स्वीकार की जावे ?

शंका—एकेन्द्रियादि सभी असंज्ञी जीवोंकी भी संज्ञी जीवोंकी तरह सुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका ग्रहण और दुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका वर्जनरूप, जो यथासम्भव प्रवृत्तियाँ देखनेमें आती है वे उनकी प्रवृत्तियाँ बिना श्रुतज्ञानके सम्भव नहीं जान पड़ती हैं ?

प्रायः देखनेमें आता है कि चींटी मिठासजन्य सुखानुभवन होनेपर मीठे पदार्थकी ओर दौड़कर जाती है और उष्णताजन्य दुःखानुभवन होनेपर अग्नि आदि पदार्थोंसे दूर भागती है, इस प्रकार चींटीकी इस प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप क्रियाका कारण श्रुतज्ञानको छोड़कर दूसरा क्या हो सकता है ? अतः असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता भले ही वह किसी रूपमें हो—मानना अनिवार्य है और इसीलिए उनके ईषत् मनका सद्भाव स्वीकार करना असंगत नहीं माना जा सकता है ?

**समाधान**—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोंका प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेदी होता है। ज्ञानकी यह स्वसंवेदना प्रकाशमें रहनेवाली स्वप्रकाशकताके समान है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशको अपना प्रकाश करनेके लिये दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञानको अपना प्रकाश करने (ज्ञान कराने) के लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती है।

ज्ञानका यह स्वसंवेदन ही एकेन्द्रिय आदि सभी असंज्ञी जीवोंको प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप समस्त क्रियाओंमें प्रेरक हुआ। करता है अतः इनकी (असंज्ञी जीवोंकी) उक्त प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाओंके लिये कारण रूपसे उन जीवोंके अतिरिक्त श्रुतज्ञानका सद्भाव माननेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, जिसके लिये हमें उनके ईषत् मनकी कल्पना करनेके लिये बाध्य होना पड़े।

मेरा ऐसा मत है कि करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें उक्त स्वसंवेदन ज्ञानको ही संभवतः श्रुतज्ञान शब्दसे पुकारा गया है; क्योंकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञानरूप श्रुतज्ञानका लक्षण उसमें घटित हो जाता है। घट पदार्थका ज्ञान होनेके साथ जो घटज्ञानका स्वसंवेदनरूप ज्ञान हमें होता है वह अर्थान्तर ज्ञानरूप ही तो है। यह स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान चूँकि इन्द्रियों द्वारा न होकर ज्ञानद्वारा ही हुआ करता है, अतः श्रुतको अनिन्द्रियका विषय माननेमें कोई विरोध भी उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि "अ" का अर्थ निषेध करके अनिन्द्रिय शब्दका "ज्ञान" अर्थ करनेमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिमें जिस श्रुतका विवेचन किया जाता है वह तो मनका विषय होता है। अतः इस प्रकरणमें अनिन्द्रियको "अ" का ईषत् अर्थ करके मनका वाची मान लेना चाहिये और करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें जिस स्वसंवेदनरूप ज्ञानको श्रुत नामसे ऊपर बतला आये हैं



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह ज्ञानका विषय होता है। अतः उस प्रकरणमें अनिन्द्रिय शब्दको "अ" का अर्थ निषेध करके ज्ञानवाची मान लेना चाहिये।

अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ भी कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। अर्थात् इन्द्रियशब्दके साथ अनिन्द्रिय शब्दका "ईषत् इन्द्रिय" अर्थ जितना उचित प्रतीत होता है उतना समनस्क शब्दके साथ अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समनस्क शब्दमें 'सह' शब्दका प्रयोग मनकी मौजूदगीके अर्थमें ही किया गया है। अतः स्वभावतः अमनस्कशब्दमें "अ" का अर्थ मनकी गैर-मौजूदगी ही करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अनिंद्रियशब्दके विशेषणार्थक संज्ञा होनेकी वजहसे उसका वाच्यार्थ मन होता है, इसलिये जिस प्रकार इन्द्रियशब्दके साथ अनिन्द्रियशब्दके प्रयोगमें सामंजस्य पाया जाता है, उस प्रकार अमनस्कशब्दका "ईषित् मनवाला" अर्थ करके समनस्क शब्दके साथ उसका (अमनस्कशब्दका) प्रयोग करनेमें सामंजस्य नहीं है क्योंकि अमनस्कशब्दका जब हम "ईषित् मनवाला" अर्थ करेंगे तो स्वभावतः = समनस्कशब्दका हमें "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना होगा, लेकिन समनस्क शब्दका "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org